# दलित समाज की गतिशीलता में शिक्षा और साहित्य की भूमिका

- प्रो. गणेश बी. पवार

**शोध सार:**

भारत जैसे विकासशील देश में, जहाँ अत्यधिक असमानताएँ बनी रहती हैं, शासक वर्ग और शिक्षा विदों ने यह मिथ्या बना के रखा कि व्यक्तिगत गतिशीलता जाति या वर्ग की रूपरेखा के बाहर उभरी एक घटना है । ऐसा माना जाता है कि आधुनिक शिक्षा, व्यावसायिक संरचनाएँ और अन्य कारक जैसे औद्योगीकरण, आदि जाति व्यवस्था की पकड़ को तोड़कर वर्ग व्यवस्था को जन्म देती हैं । दिलचस्पी की बात यह है कि शिक्षा अधिकतर उच्च जातियों और आर्थिक रूप से उन्नत समूहों के लिए ही सीमित किया गया था । इससे यह स्पष्ट होता है कि सामाजिकता की ओर ले जाने के बजाय गतिशीलता केवल स्तरीकरण की वर्णनात्मक प्रणाली को स्पष्ट करती है ।

**बीज शब्द : दलित समाज, प्रेरणा, संघर्ष, गतिशीलता, उच्च शिक्षा, आर्थिक उद्धार, समानता**

सामाजिक गतिशीलता एक बहुत ही विस्तृत शब्द है, जिसके अंतर्गत या तो व्यक्ति या सम्पूर्ण समूह की आर्थिक, राजनीतिक या व्यवसायिक परिस्थिति में ऊपर या नीचे की ओर परिवर्तनों को सम्मिलित करते है । हालाँकि सामाजिक गतिशीलता शब्द एक आधुनिक अवधारणा की तरह लग सकता है, लेकिन जिस घटना का इसमें वर्णन किया गया है उसकी जड़े मानव इतिहास में दूर तक जुड़ी हुई है।प्राचीन समाजों में, सामाजिक गतिशीलता काफी समय तक अस्तित्वहीन थी, लोगों की सामाजिक प्रतिष्ठा जन्म से निर्धारित होती थी और जीवन भर बनी रहती थी ।

भारत में सामाजिक संरचना के प्रमुख तत्व जाति व्यवस्था ग्राम, समुदाय और परिवार है, हालांकि सांस्कृतिक गतिशीलता की मात्रा को प्रभावित करने में ये तत्व महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । चाहे वह शहरी हो या ग्रामीण भारत में जाति व्यवस्था, हमारे सामाजिक संरचना का एक महत्वपूर्ण पहलू है । यह ध्यान देने की बात है कि भारत में सामाजिक गतिशीलता जाति से ही नहीं बल्कि भूमि या धन या संपत्ति के स्वामित्व और किसी के निवास स्थान से भी जुड़ी हुई है । इन सबका असर शिक्षा,रोज़गार और उच्च आय नौकरियों के पहुँच के ऊपर पड़ता है ।

इस प्रकार जाति व्यवस्था में उपरोक्त कारक व्यक्तियों की गतिशीलता के अवसरों को प्रभावित करते हैं ।

यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि व्यक्तिगत गतिशीलता संरचनात्मक परिवर्तनों को प्रभावित नहीं कर सकती है, लेकिन समूह की गतिशीलता सामाजिक संरचना में परिवर्तन को प्रभावित करती है, चाहे वह हाशिये पर हो या नहीं ।जाति के मामले में सामाजिक गतिशीलता वास्तव में हो सकती है और किसी सामाजिक संरचना के विशेष जाति या उसके वर्ग की स्थिति को प्रभावित कर सकतीहै ।

लगभग एक सामाजिक पिरामिड की तरह जो समाज की पारिवारिक इकाइयों से बना है जिसमें आधुनिक समाज के अधिकांश लोग पिरामिड के निचले स्तर पर हैं और बहुत कम लोग शीर्ष पर हैं ।जाति से बंटा हुई ऐसी समाज की पिरामिड की दीवारें कठोर ही नहीं बल्कि अभेद्य होंगे । यह जाति के भीतर सामाजिक वर्गों के अस्तित्व को इंगित करता है ।

सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक असमानता एक दूसरे से निकटता से संबंधित हैं और परस्पर पूरक भी हैं । सामाजिक गतिशीलता में एक समूह या क्षेत्र की समस्याओं को समझने के लिए उस क्षेत्र या समूह की असमानताओं को समझना आवश्यक है ।'एम. अबरहमसन' "सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करने वाले दो कारक मानते हैं : पहले का संबंध सामाजिक असमानताओं की सीमा से है जिसमें किसी एक समाज को मिले हुए अवसर, लाभ और दुरबलताओं का पहुँच पीढ़ी-दर-पीढ़ी कायम रहती है और दूसरा है, वह कौन से घटक हैं जो व्यक्ति या समूह के सामाजिक संरचना और मनोवैज्ञानिक तत्व जो समाज में औदा प्रदान करते हैं ।"[1]

भारतीय समाज में अनेक प्रकार की सामाजिक रूढ़ियाँ, कुरीतियाँ, धार्मिक और आर्थिक असमानताएँ प्राचीन काल से ही व्याप्त है । इनमें सर्वाधिक निम्नस्तरीय असमानताएँ जातियों पर लादीगई है ।जाति को एक ऐसे अंतर्विवाही बंद समूह के रूप में परिभाषित किया गया है,जिसकी मुख्य विशेषता से है ।वैदिक काल से ही दलितों की स्थिति अत्यंत दयनीय थी । अपने जीविकोपार्जन के लिए उसे दूसरी जाति पर निर्भर रहना पड़ता था। आधुनिक काल के पूर्व

से ही दलितों को सामाजिक न्याय दिलाने तथा इस वर्ग के शोषण की समाप्ती के लिए धार्मिक एवं समाज सुधार आंदोलन विभिन्न स्तरों पर आरंभ हुए । यद्यपि कुछ संतों ने भक्तिकाल से ही सामाजिक कुरीति के विरुद्ध आवाज उठाना प्राम्भ कर दिया था ।वस्तुतः सामाजिक बुराइयों की समाप्ती की रचनात्मक कार्यवाही का श्रेय डॉ. अंबेडकर को जाता है । डॉ. अंबेडकर के प्रयासों के फलस्वरूप दलितों को भी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन में अनेक सुअवसर प्राप्त हो रहे है, लेकिन इन जातियों के व्यक्ति विशेषकर ग्रामीण समुदाय में शिक्षा के प्रति उदासीनता, रूढ़िवादिता एवं सामाजिक भेदभाव के कारण परंपरागत प्रभाव से आज तक मुक्त नहीं हो पारहे हैं ।

स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद दलित वर्ग के जीवन का स्तर ऊपर उठाने के लिए सरकारी तथा गैर-सरकारी प्रयास किए जा रहे हैं । भारत में औध्यौगीकरण, नगरीकरण, समाजवादी व्यवस्था, आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा, धर्मनिरपेक्षता आदि के करण भारतीय परंपरावादी सामाजिक व्यवस्था में कई बदलाव आए है । "आर्थिक विकास दलित समाज में वर्गों की रचना करता है, जो जातिगत विभेदों के साथ मिलकर विभेदीकरण को और भी जटिल कर देते है । नतीजे के तौर पर राजनीतिक समुदाय नहीं बन पाता और दलित उन पार्टियों को भी वोट देते नजर आते हैं, जो दरअसल उनके हितों की नुमाइंदगी नहीं करती है ।"[2]

आजादी के बाद भारत के दलित समाज ने सामाजिक और आर्थिक उद्धार की दिशा में कई महत्वपूर्ण पड़ाव पार किए हैं । बाबासाहब अंबेडकर की बदौलत भारतीय संविधान में अनुसूचित जातियों के लिए किए गए आरक्षण के प्रावधान ने यह बात सुनिश्चित की कि यदि आजादी से पहेल मात्र बाबा साहब ही ऐसे दलित व्यक्ति थे जो देश और विदेश में उच्च शिक्षा पा सके, तो आजादी के बाद आरक्षण की बदौलत हजारों दलित बाबा साहब की तरह उच्च शिक्षा पा सकें । इससे भी बढ़कर महत्वपूर्ण बात यह हुई कि उच्च शिक्षा पाने के नए-नए अवसरों की बदौलत सैकड़ों-हजारों की तादाद में दलित चिंतक, लेखक, दार्शनिक तथा समाजशास्त्री पैदा हुए । इनमें से बहुत सारे लोगों ने दलित साहित्य की संरचना की ओर मराठी, हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाया ।

भारतीय राजनीति में गांधी का वर्चस्व कायम हो गया था । गांधी ने दलितों के लिए सुधार आंदोलन चलाकर अपने को दलितों का मसीहा बनाने का उपाय भी कर लिया था । किन्तु अंबेडकर गांधी की इस चाल को समझ चुके थे । वे भलीभाँति जानते थे कि सस्ती लोकप्रियता के लिए ही गांधी ने 'हरिजन' बता कर सारे दलित समाज को गुमराह कर दिया । इसलिए गांधी और अंबेडकर की विचारधारा में टकराव होता गया । 'पूना पैक्ट' द्वारा गांधी ने दलितों का सबसे नुकसान कर दिया ।

सदियों से भारत की दलित आबादी को शिक्षा तक पहुँचने से रोक दिया गया था । मूल रूप से केवल उच्च जातियों के लिए आरक्षित, दलितों को पारंपरिक शिक्षा से वंचित करने का उद्देश्य उन्हें अपने जीवन की गुणवत्ता बढ़ाने से रोकना और जाति विभाजन को उजागर करना था ।1850 के दशक के दौरान, अंग्रेजों ने भारत के सभी नागरिकों के लिए शिक्षा की पहुँच बढ़ाने की लंबी प्रक्रिया शुरू की । 1850 के अप्रैल में, जाति निवारण अधिनियम ने सैद्धान्तिक रूप से उन सभी भारतीय क़ानूनों को समाप्त कर दिया जो किसी भी जाति या धर्म के सदस्यों के भीतर सामाजिक समानता की दिशा में पहला कदम था ।

यह दलित जाति के सदस्यों के लिए शिक्षा तक पहुँच बढ़ाने के प्रयासों की एक शृंखला की शुरुआत भी थी । हालाँकि, दलितों को स्कूलों में जाने की अनुमति दिए जाने के एक सौ साठ साल बाद भी, उच्च जातियों की तुलना में दलित आबादी की प्राथमिक शिक्षा दर अब भी उतनी ही कम है । ऊंची जातियों से भेदभाव के कारण, दलित बच्चे स्कूलों में जाने से डर महसूस करते थे । दलित बच्चों को स्कूल के बाहर बरामदे में बैठकर सुनना पड़ता था,जबकि ऊंची जाती के बच्चों को अंदर पढ़ाया जाता था । शिक्षक, जो दलित बच्चों को लाठीयों से छूनेसे भी इंकार करते थे,अवांछनीय दंड के रूप में बांस के बेंत फेंकते थे जबकि अन्य जातियों के बच्चों को कीचड़ फेंकने की अनुमति थी ।

इसी शिक्षा से प्राप्त शब्दों के माध्यम से दलितों ने साहित्य लिखना प्रारम्भ किया । दलित साहित्य, दलितों का सामाजिक आंदोलन ही नहीं, उनका सांकृतिक आंदोलन भी है । सदियों से जिनके श्रम को इतिहास में स्थान नहीं मिला, दलित साहित्य के रूप में वे लोग अपनी व्यथाकथा को साहित्य बना कर अन्य दलितों को प्रेरणा देते हैं ।

अब तक रचे गए सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में जिन मुद्दों को एकदम नकारा गया वही मुद्दे अब दलित साहित्य के निर्माण के प्रेरणा श्रोत बने । उदाहरण के लिए अब तक का रचा गया साहित्य धर्म तथा ब्रह्मणवाद द्वारा निर्मित आचार-विचार पर आधारित था । इस प्रकार केवल भगवान, राजा श्रेष्ठ पुरुष, उच्चवर्ग आदि के गुणवान तथा उनके विकास से संबंधित मुद्दों को ही साहित्य रचना का आधार बनाया गया । इस नियम के तहत समाज का बहुत बड़ा तबका तथा उसकी समस्याएँ साहित्य के घेरे से बाहर ही रहे या यूं कहिए अछूते ही रहे । चाहें संस्कृति साहित्य हो या अन्य भारतीय भाषाओं का साहित्य सबके लिए रामायण, महाभारत आदि ग्रंथ उपजीव्य काव्य के रूप में रहे हैं अर्थात् इन्हीं दो ग्रंथों को आधार बनाकर साहित्य रचा गया । बाद में जब अन्य विषयों पर रचनाएँ हुई वह भी समाज के उच्च वर्ग तक ही सीमित नहीं इस प्रकार भारतीय समाज का दबा कुचला वर्ग हमेशा साहित्य से दूर रहा ।

छिटपुट रूप में कुछ रचनाकारों ने इस वर्ग के दुख दर्द को स्थान दिया । हिन्दी साहित्य में गिने-चुने नामों से हम प्रेमचंद, निराला, हिरीराज किशोर, धूमिल आदि को ले सकते हैं जिन्होंने दलित समस्याओं को छुआ है । किन्तु जो दर्द, जो पीड़ा जो वेदना होनी चाहिए थी वह कभी भी साहित्य में स्थान नहीं बना पाई । आखिर दलित साहित्यकारों ने ही इसका आरंभ किया । पूरे दलित समाज की समस्याओं को इसमें स्थान मिला । यद्यपि जब कोई दलित लिख रहा है तो उसका व्यक्तिगत अनुभव पूरे दलित समाज के अनुभव का अभिन्न अंग होता है, इसलिए वह पूरे समाज के साहित्य के रूप में ही मान्यता प्राप्त करता है ।

दलित साहित्य पिछले दो दशकों से इस प्रकार का साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया । मराठी के दलित साहित्य को इस रूप में हम आगे मान सकते हैं । यहाँ यह साहित्य पूरे सामाजिक एवं राजनीतिक आंदोलन के साथ-साथ उभरा तथा विकास की ओर अग्रसर है । हिन्दी में साहित्य की लंबी परंपरा मिलती है जिसकी खोज का विवरण इन दोनों पत्र-पत्रिकाओं में प्रचुर मात्रा में आया भारतीय भाषाओं में विशेषकर तेलुगू, बंगला, गुजराती, कन्नड आदि में दलित साहित्य तेजी से स्थान बना रहा है । महत्वपूर्ण बात यह है कि सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं में लिखे जाने वाले दलित साहित्य का स्वर एक ही है । चूँकि पूरे भारत में राजनीतिक स्थिति एक-सी है। भाषा रहन-सहन, खान-पान पहनावा की भिन्नता के बावजूद को सामाजिक स्थिति है उसमें भिन्नता नहीं । वर्णभेद पर आधारित टुकड़ों-टुकड़ों में बंटा हुआ समाज विषमता के महल पर बैठा हुआ है । स्तर भेद के रूप में जाति व्यवस्था ने पूरे भारतीय समाज को खण्डित कर

रखा है । जाति, धर्म, वर्ण पर विभाजित समाज में दलितों की स्थिति एक समान है । दलित साहित्य ने गूँगे लोगों को वाणी प्रदान की है । उनकी पीड़ा को पूरे समाज के सामने साहित्य के रूप में प्रस्तुत किया है । चूंकि यह साहित्य समाज में समानता, एकता तथा मानवता के लिए अग्रसर हिने की प्रेरणा देता है तो वे दिन दूर नहीं जब यही साहित्य सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का मुख्य साहित्य बन जाएगा और इस प्रकार सच्चे मायने में भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता की तस्वीर साफ होगी ।

दलित साहित्य देश में एक नूतन सांस्कृतिक क्रांति का द्योतक है ।

'अपो दीपो भव'

अर्थात 'स्वयं प्रकाश बनो' के आदर्श से प्रत्येक भारतीय को एक नया मार्ग दिखाना भी इस साहित्य का मुख्य उद्देश्य है । दलित साहित्य को जातिवादी साहित्य कहकर कलंकित करने का प्रयास चल रहा है, किन्तु ऐसा कहनेवाले शायद इस बात को नहीं जानते कि बुद्ध की विचारधारा को लेकर चलनेवाला साहित्य जातिवादी हो ही नहीं सकता क्योंकि इस मानवतावादी विचारधारा में जाति, वर्ण के भेदभाव का कोई स्थान नहीं है ।

दलितों के जीवन पर दलित साहित्य के प्रभाव को इस प्रकार देख सकते हैं कि आधुनिक दलित साहित्य पुराने मापदण्डों को प्रश्न करता हैं, वह हिन्दू संस्कृति को सिरे से खारिज करता है तथा धर्म के पाखंड को जड़ से मिटाने की बात कहता है । कवि के शब्द इसी कारण तीखे हैं -

"यहाँ सांस लेती है वह कुत्ता संस्कृति

जो आदमी को आदमी से काटती -बाँटती है

धन-धरती और रिश्तों को गैर -बराबरी के साथ ।"[3]

सदियों के शोषण, अपमान व संत्रास से उपजा दलित साहित्य आक्रामक किस्म के रूप में अभिव्यक्त हुआ हैं । इसलिए वह तमाम विरोधों और दबावों के दमन को ललकारता है तथा सीधा-सीधा शोषण की व्यवस्था व उसके पोषकों को चुनौती देते हुए कहता है -

"सुनो वरिष्ठ द्रोणाचार्य तुम भी सुनो/

हम तुमसे घृणा करते हैं

तुम्हारे अतीत /तुम्हारी आस्थाओं पर थूकते हैं ।"[4]

दलित साहित्य आत्मा-परमात्मा व भगवान को खारिज करता है । इसलिए इस साहित्य में ईश्वर को मृत घोषित करता है,क्योंकि ईश्वर, आत्मा व भगवान की आड़ में ही दलितों पर कहर बरपा गया है । कवि के शब्दों में -

"ईश्वर की मौत उस पल होती है

जब मेरे भीतर उठता है सवाल

ईशवर का जन्म किस माँ की कोख से हुआ

ईश्वर का बाप कौन ।"[5]

दलितों के लिए आर्थिक प्रतिष्ठा से अधिक महत्वपूर्ण सामाजिक प्रतिष्ठा है, जो कि दलित साहित्य का मूल दर्शन और लक्ष्य है ।इसलिए दलित साहित्य कार्ल मार्क्स की आर्थिक समानता की अपेकषा अंबेडकर दर्शन की सामाजिक समानता की बात करता है । एक कवि ने चिड़िया के प्रतीक माध्यम से इस बात को इस तरह स्पष्ट किया है -

"वह चिड़िया भूख से नहीं चिड़िया होने से पीड़ित थी

वह कैसे जानता गरीबी नहीं

सामाजिक बेइज्जती अखरती है ।"[6]

अगर गहराई से विश्लेषण किया जाए तो लगता है कि वर्तमान समय में दलित आंदोलन एवं दलित साहित्य एक अत्यंत विकत चौराहे पर आ खड़ा हुआ है । यह सही है कि आज दलित समाज से निकालकर आए दलित शिक्षाविदों, चिंतकों, साहित्यकारों, दार्शनिकों और समाजशास्त्रियों का काफी सशक्त तबका उभर कर आया है । एक मायने में दलित समाज का सशक्तिकरण स्पष्ट दिखाई देता है । पर इसके आधार पर क्या हम कह सकते हैं कि पूरे दलित समाज का उद्धार हो चुका है ? क्या यह सही नहीं है कि इतने सारे दलित नेताओं, मंत्रियों, मुख्यमंत्रियों और अन्य विभूतियों के उभर कर आने के बावजूद दलित समाज के एक बहुत बड़े हिस्से की हालत अभी भी चिंताजनक है ? बल्कि यूं कहना चाहिए कि 80-90 % से अधिक दलित जनता आज भी सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक शोषण, दमन और अत्याचार की शिकार है ।

दलित साहित्य परंपरागत साहित्य के तमाम कुसंस्कारों को नकारता है, वह न तो परंपरागत साहित्यिक परिभाषा को स्वीकारता है और न ही उसके सौंदर्यशास्त्र को । दलित साहित्य का अपना सौंदर्यशास्त्र है इसमें बिना भेदभाव के मानव को समना रूप से स्थान दिया जाता है । भगवान, उच्च कुल जैसी किसी बात को इसमें स्थान नहीं । केवल प्रसंगवश इनका उल्लेख किया जाता है । वर्तमान समय में इस साहित्य ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक आंदोलन खडा किया है । एक नए भारत के निर्माण के लिए ही दलित साहित्य की रचना की जा रही है । एक नए भारत के निर्माण के लिए ही दलित साहित्य की रचना की जा रही है । हमने ऊपर ऊँची और नीची जाति की बात की, किसी जाति का समज में सम्पूर्ण सम्मान है तो किसी जाति का समज में कोई स्थान नहीं । दलित साहित्य इन्हीं भेदभाव पूर्ण समाज को समाप्त करना चाहता है । एक ऐसा समाज जिसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व की पहचान हो न कि उसकी जाति से उसकी पहचान और सम्मान मिले ।

अंत में दलित समाज की गतिशीलता हम इस प्रकार देख सकते है कि जिनके जीवन में कभी-सुंदरता ने पाँव ही नहीं रखे, जिन्होंने कभी जीवन में सुख देखे ही नहीं वे परंपरागत सौंदर्यशास्त्र को नकारते हुए दलित साहित्य लिख पा रहे हैऔर “मनुस्मृति में लिखा है शूद्रों को

वेद पुराण नहीं पढ़ने चाहिए और अगर वो सुने या पढ़ें तो उनके कानों में सीसा पिघालकर डालने का दंड था ।"[7] ऐसी स्थिति से लेकर भारत के संवधान लिखने तक देख सकते हैं ।

**संदर्भ ग्रंथ :**


1. सामाजिक गतिशीलता और आर्थिक विकास -पुनयोद्यना, पृ - 1-16 ।
2. दलितों में सामाजिक गतिशीलता एवं राजनैतिक चेतना - डॉ. ओम प्रकाश भारतीय।
3. सुखवीर सिंह - बयान बाहर पृ - 21।
4. मलखान सिंह - सुनो ब्राह्मण, पृ - 48 ।
5. मोहनदास नैमिशराय -ईश्वर की मौत ।
6. तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती - कंवल भारती ।
7. Who were the shudras - Dr. B.R.Ambedkar .
8. दलित साहित्य का स्वरूप - किशोरी लाल रैगर ।


**आधार ग्रंथ :**


1. दलित आंदोलन के विविध पक्ष - शत्रुज्ञ कुमार ।
2. दलित दर्शन की वैचारिकी - बी.आर. विप्लवी ।
3. समकालीन हिन्दी दलित कविता - देवेन्द्र भारती 'प्रखर' ।


**पत्र -पत्रिकाएँ :**


1. रजत रानी मीनू - हम कौन हैं ? हंस, अगस्त 2004 ।
2. हंस -राजेन्द्र यादव, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली ।


**प्रोफ़ेसर गणेश बी. पवार**,
हिंदी विभाग, भाषा एवं मानविकी संकाय,
कर्नाटक केन्द्रीय विश्वविद्यालय, कलबुरगी
Email: ganeshpawar@cuk.ac.in